सेकुलर/साम्प्रदायिक : कुछ और अवलोकन

रमाशंकर सिंह

आलोक टंडन ने *प्रतिमान-9* में अभय कुमार दुबे की किताब *सेकुलर/साम्प्रदायिक* की सुंदर समीक्षा लिखी है। मुझे यह किताब और उसकी समीक्षा पढ़ते समय एक बात समझ में आयी कि लोग उसी दुर्गुण का शिकार हो जाते हैं जिसकी वे आलोचना करते हैं। हिंदी-बुद्धिजीवियों के बारे में यह किताब बताती है कि उनकी शब्दावलियाँ किस प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शब्दावलियों से आती हैं। टंडन की समीक्षा इस अवलोकन को सही साबित करती है जब वे कहते हैं कि 'सेकुलरवाद का रथ' छद्म सेकुलरवाद के आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच फँस-सा गया है और यह किताब उस ज़मीन को तैयार करने का आह्वान करती है जिस पर यह रथ निश्शंक दौड़ सके। मुझे तो लगता है कि रथ का यह रूपक आडवाणी की 'रथयात्रा' से निकला है! एक अन्य जगह टंडन लिखते हैं कि 'लगभग सभी मानते हैं कि हिंदुओं को उदारता, बहुलता और सहिष्णुता, इतिहास और परम्परा से विरासत में मिली है। इसलिए उनके सेकुलर होने की गुंजाइश खुली है।' यह इतिहास का एक अति-प्रचलित और सुविधाजनक पाठ है जो हिंदू समाज की तथाकथित उदारता की जाँच-पड़ताल करने के दरवाज़े बंद कर देता है। इसे पढ़ कर लगा कि किस प्रकार समीक्षक इतिहास की अपनी व्याख्या करता है और उसे किसी किताब या लेख के साथ कुशलतापूर्वक नत्थी कर देता है (वैसे यह आरोप मुझ पर भी लग सकता है!)।

दूसरे, यह समीक्षा अभय कुमार दुबे की उस कमज़ोरी को नहीं पकड़ पाती है जिसे उन्होंने सेकुलर/साम्प्रदायिक के द्विभाजन में उपेक्षित कर दिया है। यह किताब सेकुलर/साम्प्रदायिक की बहसों, सैद्धांतिक निर्मिति की पड़ताल तो करती है, लेकिन डॉ. भीमराव आम्बेडकर की उन आपत्तियों का जवाब नहीं देती है जो उन्होंने उच्च जातीय हिंदुओं के ख़िलाफ़ की थीं। ऊँची जाति के हिंदू एक ही धर्म के अंदर अपने से नीचे की जातियों को घृणा, अपमान और बहिष्करण का शिकार बनाते रहे थे। आम तौर से जाति के प्रश्न और ख़ास तौर से दलित प्रश्न को उपेक्षित करना इस पुस्तक की कमज़ोरी रही है। इसे रेखांकित किया जाना चाहिए था।

अंग्रेज़ी के शब्दकोश प्रति वर्ष अपने भण्डार में कोई न कोई शब्द शामिल करके उसे 'वर्ष का शब्द' घोषित करते हैं। हालाँकि 'सिकुलर' ऐसा शब्द तो नहीं है, लेकिन यह शब्द साक्षर और शहरी भारत में पिछले तीन-चार सालों में काफ़ी तेज़ी से प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द का इस्तेमाल सबसे पहले किसने किया, यह नहीं पता, लेकिन सोशल मीडिया ने इसे विशेष अर्थ दिया। जिस आशय के साथ इसके प्रयोक्ता इसे बरत रहे थे, उस आशय के साथ यह शब्द आगे बढ़ा भी। इस शब्द को उन लोगों में एक 'ग्लानिभाव' भर देने के लिए प्रयुक्त किया जो अपने आपको सेकुलर कहते रहे हैं। सेकुलर शब्द को बिगाड़ कर 'सिकुलर' कर दिया गया यानी सेकुलरीकरण की भारतीय परियोजना के बीमार लोग। इस राजनीतिक अपभ्रंश का इस्तेमाल एक समूह ने अपने विरोधी समूहों को चिढ़ाने के लिए किया। उन्होंने खुले आम कहा कि भारत में सेकुलरीकरण की परम्परागत राजनीति काम नहीं कर पाई है और इसने एक बड़े तबक़े की भावनाओं को उपेक्षित और आहत किया है। इन सेकुलर लोगों पर अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण का आरोप राजनीतिक रैलियों में खुलेआम लगाया गया। इस दिक़्क़ततलब उपलब्धि तक भारत किस प्रकार पहुँचा है, इसे जानने के लिए यह किताब हमारी मदद करती है।

इसी विवाद के बीच में असली और नक़ली सेकुलर का विवाद भी उठा। भारत के सार्वजनिक जीवन में कौन सेकुलर है और कौन साम्प्रदायिक, इसकी

यह किताब नयी सदी के पहले के पंद्रह वर्षों के बारे में कुछ नहीं कहती है। ... **इसे मुज़फ़्फ़रनगर में हुई घटनाओं पर अवश्य बात करनी चाहिए थी।** ... 1992 के बाद पैदा हुई युवा पीढ़ी के एक बड़े हिस्से को इस या उस पक्ष में गोलबंद करने में इन दंगों का इस्तेमाल किया गया। इसमें कोई एक राजनीतिक दल शामिल नहीं था, **बल्कि कई राजनीतिक दल शामिल थे जो घटनाओं के घटने के बीच और उसके बाद इसे अपने तरीक़े से, राजनीतिक नफ़े-नुक़सान के लिए व्याख्यायित कर रहे थे।**

निशानदेही करना मुश्किल भरा काम है। लोग अपने सार्वजनिक व्यवहार में सेकुलर दिखना पसंद करते हैं। जब वे इसमें सफल नहीं हो पाते हैं तो वे उस बाहरी आचरण और दैहिक भंगिमा को ही सेकुलर कहने लगते हैं, जो वे करते आ रहे हैं, चाहे वह किसी मज़ार पर चादर चढ़ाने का मामला हो या किसी मंदिर में राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री का जाना और फिर इसका प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक तथा सोशल मीडिया के द्वारा उस जनता/नागरिक तक ले जाना— जो हिंदू, मुस्लिम या किसी अन्य धर्म का अनुयायी है। पुस्तक की भूमिका कहती है कि शायद इस मुश्किल का प्रमुख कारण यह है कि राजनीति और विमर्श के दायरे में पाले के दोनों तरफ़ दो-दो हमशक़्ल मौजूद हैं। यानी सेकुलर की भी दो क़िस्में हैं और साम्प्रदायिक की भी। एक अल्पसंख्यक सेकुलरवाद है और दूसरा बहुसंख्यक सेकुलरवाद। इसी तरह एक अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता है और दूसरी बहुसंख्यक। विडम्बना यह है कि इन हमशक्लों की मौजूदगी से बाक़ायदा वाक़िफ़ होने के बावजूद अभी तक हम इन्हें अलग-अलग करके देखने और समझने की तमीज़ विकसित नहीं कर पाए हैं। ... जो किसी संदर्भ में सेकुलर है, वह किसी और संदर्भ में साम्प्रदायिक लगने लगता है, और यही परिघटना अपने उलटे रूप में भी घटित होती रहती है। एक अपरिभाषित और अदृश्य अंतराल बनता है जिसमें सेकुलर और साम्प्रदायिक ख़ेमों में एक चौंका देने वाली आवाजाही होती रहती है।

यह आवाजाही सत्ता पर क़ब्ज़े से लेकर सम्प्रदाय विशेष के रहनुमा बनने की महत्वाकांक्षा और एक नयी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विकास तक ले जाती है। इन सवालों को सम्बोधित करते हुए अभय कुमार दुबे इस बात की जाँच करते हैं कि भारत में धर्म, समाज, राजसत्ता और संविधान किस प्रकार एक-दूसरे में गुँथे हुए हैं। यह किताब अपने अंत तक पाठक को यह समझने के लिए तैयार करती है कि साम्प्रदायिकता या सेकुलरीकरण के साथ अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की गतिकी किस प्रकार से जुड़ गयी है। यह किताब अपने शीर्षक में कुछ और चीज़ों को स्पष्ट कर देती है, मसलन यह किताब जितनी भारत में सेकुलरीकरण की निर्मिति, उसकी सफलता और विफलता के बारे में है, उतनी ही यह किताब साम्प्रदायिकता और उसको लेकर बनी इकहरी और समरूप समझदारी के बारे में भी है। किसी निर्णय देने के लहज़े से मुक्त यह किताब सेकुलर/साम्प्रदायिक को एक उलझन के रूप में रखती है।

भारत में साम्प्रदायिकता पर बात करते समय हम गणेश शंकर विद्यार्थी के जीवन को छोड़ कर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। विद्यार्थी उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते थे जिसने आधुनिक शिक्षा पाई थी, जो देश के मूल चरित्र को जनतांत्रिक मूल्यों के हिसाब से ढालना चाहती थी। उसका विश्वास था कि प्रेस और जनतंत्र मानव मूल्यों को मुक्तिकामी दिशा देंगे और एक सेकुलर समाज का निर्माण हो सकेगा। यह किताब ऐसे ही व्यक्तित्व गणेश शंकर विद्यार्थी को समर्पित है। विद्यार्थीजी ने 1931 में हुए कानपुर में भीषण दंगे में अपनी जान गँवा दी थी।

कानपुर के दंगों ने उस समय के कांग्रेस नेतृत्व को सोचने पर मजबूर किया था। इसकी पड़ताल के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यसमिति ने भगवान दास की अध्यक्षता में छह सदस्यीय समिति का गठन किया था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में व्यवस्थित रूप से साम्प्रदायिक दंगों की निर्मिति और प्रसार पर बात की। सम्भवत: पहली बार देश की जनता के समक्ष यह तथ्य लाने का प्रयास किया गया कि साम्प्रदायिकता दरअसल एक औपनिवेशिक निर्मिति है। कानपुर दंगा रिपोर्ट में उपचारात्मक क़दमों पर भी ज़ोर दिया गया था कि

साम्प्रदायिकता को किस प्रकार रोका जा सकता है।

लेकिन, आज़ाद भारत में साम्प्रदायिकता का प्रसार नहीं रुका और 1960 के बाद का ऐसा कोई दशक नहीं बचा, जब दंगे न हुए हों। दंगों के बाद इससे बचने के उपायों पर चर्चा हुई और नागर समाज इससे बचने का उपाय खोजता फिरा। सेकुलर/ साम्प्रदायिक का ध्येय ऐसे किसी सरलीकृत उपाय सुझाने से बचना है जो साम्प्रदायिकता को औपनिवेशिक निर्मिति बताते हुए एक सुविधाजनक तरीक़े से अमीर खुसरो, कबीर, दादू दयाल और रसखान के माध्यम से इस उलझन को सुलझ जाने की बात करे। भारत में साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए सिविल सोसाइटी इसे एक फ़ौरी उपाय के तौर पर पेश करती रहती है। उसके पास हिंदू-मुस्लिम सौहार्द के नाम पर सुनाने के लिए ढेर सारी कहानियाँ होती है। कभी-कभार यह भोलापन यहाँ तक चला जाता है कि यदि कोई ग़ालिब की ग़ज़ल सुन रहा है तो सेकुलर होगा ही! इसी तर्ज़ पर किसी मुस्लिम को हनुमान चालीसा पढ़ते या गीता का पाठ करते प्रस्तुत किया जाता है या हिंदू जनों को ताजिया रखते हुए। यह वास्तव में एक फ़ौरी उपाय भर है। इसे रणनीति के रूप में पेश किया जाता है।

भारत में समाज-विज्ञानों का विमर्श मुख्यत: विश्वविद्यालयों द्वारा नियंत्रित और अंग्रेज़ी से प्रभावित रहा है। इस विमर्श को अंग्रेज़ी भाषा में पढ़े-लिखे प्रोफ़ेसरान ने जन्म दिया, बढ़ाया और अपनी सुविधानुसार कुंद भी किया। इस विमर्श में समाज के सभी हितधारकों को शामिल नहीं किया गया। इस कमज़ोरी पर यह किताब अँगुली रखती है। पार्थ चटर्जी, सुदीप्त कविराज, त्रिलोकी नाथ मदन और राजीव भार्गव अंग्रेज़ी भाषा में संबंधित विमर्श और सिद्धांत रचना करते रहे हैं। उन्होंने आधुनिकता और जनतंत्र से भारतीय जनों की मुठभेड़ और इससे उनके मोलभाव की सफलता-विफलता का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यह आश्चर्यजनक है कि अंग्रेज़ी भाषा के बरअक्स हिंदी में ऐसे सिद्धांतकारों और सोचने वाले जनों का अभाव है जो सेकुलर और साम्प्रदायिक के द्विभाजन पर अपना पक्ष रख सकें। ऐसे में अभय कुमार दुबे, राजेंद्र माथुर, किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा, खगेंद्र ठाकुर, राजेंद्र यादव, प्रभाष जोशी, राजकिशोर और सुधीश पचौरी की ओर देखते हैं। इन विद्वानों ने अख़बारों और लेखों के माध्यम से हिंदी की विस्तारित होती दुनिया में अपना पक्ष रखा है। यह पक्ष सुभेद्य भी है। यह एक सीमा से आगे इसलिए नहीं बढ़ पाता है क्योंकि वह अपनी भाषा और मुहावरे अंग्रेज़ी के बौद्धिक संसार से लाता है। वह रूढ़ छवियों को स्थायी छवियों में तब्दील करने का शिकार बन जाता है।

यह किताब उस विडम्बना की ओर इशारा करती है जिसमें साम्प्रदायिकता जैसी समस्या को न केवल शहरी समस्या माना गया बल्कि यह शहरी अभिजनों की बौद्धिक बहसों में उलझ कर रह गयी। हिंदी सहित भारतीय भाषाओं में एक सुविधापरक ख़ामोशी बनी रही। इस ख़ामोशी को अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में तोड़ते हैं। साम्प्रदायिकता अब गाँवों में है। अब वह गाँव के 'पवित्र आख्यान' का हिस्सा है। बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* के बहाने यह किताब इस बात की शिनाख़्त करती है कि एक पढ़ा-लिखा मुस्लिम मन इस बदले माहौल से किस प्रकार मोलभाव करता है? अब उसी गाँव में हिंदू-मुसलमान सामासिकता की महक के साथ-साथ साम्प्रदायिकता की बास फैल गयी है।

भारत के धार्मिक स्पेस में हनुमान की एक लोकदेवता के रूप में भूमिका के मूल्यांकन के बहाने यह किताब कई नयी खिड़कियों को खोलने का प्रयास करती है। अभय कुमार दुबे एक रोचक लेख में हनुमान की एक लोकप्रिय देव-छवि के निर्माण का इतिहास बताते हैं। वे बताते हैं कि किस प्रकार हनुमान मराठीभाषी जनता के बीच लोकप्रिय होते हुए पुलिस लाइनों में बने सैकड़ों छोटे मंदिरों में एक लोक देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते रहे हैं, और यह बात शिवाजी के गुरु रामदास के समय शुरू हुई। रसिक सम्प्रदाय के बीच हनुमान सीता की सलज्ज सखी के रूप में आते हैं। इसके बहाने यह किताब बताना चाहती है कि विविध छवियों और मनोरथों को पूर्ण करने वाले इस लोक-देवता को दुष्टों का दलन करने वाले एक देवता, वह भी एक धर्म विशेष के लोगों के ख़िलाफ़, के रूप में न केवल बदलने का प्रयास किया जाता है बल्कि उन्हीं के नाम पर एक दल बनाया जाता है। लेकिन जनता इससे शक्तिशाली है और उससे भी शक्तिशाली है उसका वह विश्वास जो अपने कमज़ोर और संकट के क्षणों में हनुमान का नाम याद करती है। हनुमान संगीत के जानकार माने जाते हैं। बनारस के संकटमोचन मंदिर में उनकी प्रतिष्ठा

न केवल एक देवता के रूप में है बल्कि संगीत के जानकार के रूप में भी है। भारतीय संगीत के साझा तंतुओं के बारे में इस किताब में नहीं लिखा जाना था, इसलिए इस पक्ष पर प्रकाश न डालते हुए भी एक बहुत ही मार्मिक प्रसंग में यह किताब बताती है कि किस प्रकार बनारस शहर के लोकवृत्त ने एक बहुत ही नाजुक क्षण में आपसी भाईचारे की मिसाल पेश करते हुए शांति बनाए रखने में कामयाबी हासिल की जबकि कुछ राजनीतिक समूह इसको धार्मिक गोलबंदी में बदल देना चाहते थे।

अभी तक भारत में साम्प्रदायिक राजनीति की शुरुआत और सार्वजनिक जीवन में सेकुलर मूल्यों के क्षरण पर विचार करते समय एक सरलीकृत तरीक़े से धर्म और राजनीति के आपसी संबंधों पर जोर दिया जाता रहा है। इसे भारतीय जनता पार्टी द्वारा हिंदू मतों के ध्रुवीकरण की कोशिश के रूप में देखा जाता रहा है। इसके लिए जो व्याख्याएँ सामने आती रही हैं, वे दिल्ली, लखनऊ, भोपाल या चण्डीगढ़ के बीच पनप रहे सत्ता-संबंधों, शक्तिशाली लोगों की हसरतों और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के मुखियाओं की महत्वाकांक्षाओं को नज़रअंदाज़ करती हैं। दिल्ली में बनती-बिगड़ती सत्ता अपने को बचाए रखने के लिए संघवाद के औपचरिक ढाँचे से बाहर जाकर हिंदुत्ववादी राजनीति को पालती और पोसती है। वह क्षेत्रीय पार्टियों से सत्ता के बदले मोलभाव करने में सफल हो जाती है। वह शिव सेना जैसे हिंदुत्व के क्षेत्रीय संस्करण को खाद पानी उपलब्ध कराती है। वह दुश्मन की खोज करती है। वह दुश्मन किसी प्रांत के बाहर का व्यक्ति हो सकता है। वह दूसरे धर्म का हो सकता है। इस 'अन्य भाव' में एक शहरी और भाषाई पहचान आरोपित की जा सकती है। कारख़ाने में काम करने वाला मजदूर सैनिक में तब्दील किया जा सकता है। इस सैनिक के निर्माण में भाषा और क्षेत्रीय अस्मिता का गोंद मिला दिया जाता है। शहर में रोज़गार के अवसरों पर मजबूत पकड़ से निकल कर शिव सेना भारतीय जनता पार्टी की सहायक पार्टी बन जाती है। भले ही शिव सेना की अपनी स्पष्ट राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ हों और वह किसी पार्टी का अधीनस्थीकरण स्वीकार न करती हो, लेकिन वह हिंदुत्वादी गोलबंदी में भाषा और प्रांत की श्रेणियों के साथ आकर जुड़ जाती है।

साम्प्रदायिक राजनीति एवं सार्वजनिक जीवन में सेकुलर मूल्यों के सतत क्षरण का स्पष्ट दौर उत्तर प्रदेश में बाबरी-ध्वंस के दौरान और उसके बाद आता है। अमूमन भारतीय राजनीति में 1992 के उन्मादी क्षणों को एक ऐसे मुक़ाम के तौर पर देखा जाता है जिसकी रचना आडवाणी ने की थी। इस क्षण के निर्माण में 1989 के मुलायम सिंह यादव की भी बात की जाती है। अभय कुमार दुबे इस निर्मिति को समझाने के लिए भारतीय राजनीति के रंगमंच से समाजवादियों, लोहियावदियों, सामाजिक न्याय के पैरोकारों और हिंदुत्व के मसीहाओं की राजनीति के जाल को विश्लेषित करते हैं। इस जाल में कांग्रेस के अवसान से लेकर अयोध्या में गोलीचालन के बारे में चर्चा है। एक बहुत ही लोकप्रिय लेकिन कठिन समय में दिये गये भाषण में भारत के प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंहराव ने कहा था कि आप सब कुछ ला सकते हैं लेकिन मजिस्ट्रेट कहाँ से लाएँगे? वास्तव में वे उस ओर इंगित कर रहे थे जब दिसम्बर, 1992 में राज्य सरकार ने मजिस्ट्रेटों को पर्याप्त रूप से सक्षम नहीं बनाया और बाबरी-ध्वंस हो गया। 1989 में वास्तविक धरातल पर अयोध्या में जो घटा और 1992 में कल्याण सिंह की सरकार अपने पूरे मंत्रिमण्डल के साथ जिस प्रकार अयोध्या कूच किया था, उससे स्पष्ट हो गया था कि आने वाले दिन कैसे होंगे।

इस किताब की अपनी सुविधाजनक कमज़ोरियाँ हैं। यह किताब नयी सदी के पहले के पंद्रह वर्षों के बारे में कुछ नहीं कहती है। अभय कुमार दुबे पत्रकारिता से जुड़े रहे हैं। वे जानते हैं कि किसी परिघटना के पीछे कौन-सी राजनीतिक सामाजिक संरचनाएँ काम कर रही होती हैं। आशा है कि जब इस किताब का अगला संस्करण आएगा तो वे उन बातों पर भी अपनी बात रखेंगे जिसने हमारे वर्तमान राजनीतिक क्षण को रचा है, विशेषकर 2014 के बाद के समय को।

यह किताब 2016 में प्रकाशित हुई है, इस लिहाज़ से इसे मुज़फ़्फ़रनगर में हुई घटनाओं पर अवश्य बात करनी चाहिए थी। मुझे ऐसा लगता है कि 1992 के बाद पैदा हुई युवा पीढ़ी के एक बड़े हिस्से को इस या उस पक्ष में गोलबंद करने में इन दंगों का इस्तेमाल किया गया। इसमें कोई एक राजनीतिक दल शामिल नहीं था, बल्कि कई राजनीतिक दल शामिल थे जो घटनाओं के घटने के बीच और उसके बाद इसे अपने तरीक़े से, राजनीतिक नफ़े-नुक़सान के लिए व्याख्यायित कर रहे थे।

—फ़ेलो, उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला.